UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182376

UNIVERSAL
LIBRARY

Oc[illegible]7.66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 V78D Accession No. P.G. H49

Author विनोद.

Title घारा. 1945.

This book should be returned on or before the date last marked below.

552—7-7-66—10,000

'विनोद'

आवरण चित्र

महादेवी वर्मा

किताब महल

प्रयाग

२३५, हॉर्नबी रोड, फोर्ट, बम्बई

प्रथम संस्करण, १९४५

मुद्रक—ए० बी० वर्म्मा, शारदा प्रेस, प्रयाग
प्रकाशक—किताब महल, प्रयाग

डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त

समर्पण

जिन्होंने भारतीय क्रान्ति का
बीजारोपण किया और उसे
अपने रक्त से निरन्तर सींचते
रहे; उन्हीं भारतीय
क्रान्ति के पिता
डा० भूपेन्द्रनाथ
दत्त को सादर
समर्पित

कहाँ क्या

		पृष्ठ
१—अवरुद्धा	... ...	१
२—विधिसे	... ...	४
३—नाविक-गान	... ...	५
४—फटी चदरिया	... ...	६
५—समस्या	... ...	७
६—अभिशाप	... ...	८
७—दुर्दिन	... ...	९
८—प्रलय-ज्वाला	... ...	१०
९—हुङ्कार	... ...	१२
१०—सामर्थ्य	... ...	१४
११—वहाँ	... ...	१६
१२—मृत्यु-पर्व	... ...	१८
१३—प्रेमी की कामना	... ...	२०
१४—इन्द्रजाल विलासिनी	... ...	२३
१५—विदा	... ...	२४
१६—स्मृति	... ...	२५
१७—अभिशप्ता	... ...	२६
१८—स्वप्न देखा	... ...	२८
१९—उसको भला कैसे विसारूँ	... ...	३०
२०—परदेशी	... ...	३४
२१—प्रेम की समस्या	... ...	३४
२२—रूप-अरूप	... ...	३६
२३—गति की ओर	... ...	३८
२४—देवता तू आप अपना	... ...	३९
२५—तोड़ो भव के बन्धन तोड़ो	... ...	४१

		पृष्ठ
२६—मन की गाँठे खोल	... ...	४२
२७—मूरख मन तू समझ न पाया	...	४३
२८—मानस-सत्य	... .	४५
२९—पंछी	... ...	४६
३०—जीवन-प्रवाह	... ..	४७
३१—प्रात:बेला	... ...	४८
३२—आशंका	... ...	४९
३३—[illegible] जागी	... ...	५०
३४—रल मिल जा	... ...	५१
३५—हम हैं जन-जीवन के प्रेमी	... ...	५२
३६—हृद में वेहद	....	५४
३७—अभिनव वंशीवाला	... ...	५५
३८—जय जन-वाणी	... ...	५६
३९—विवश भारत	... ...	५७
४०—वेदी पर	... ...	५८
४१—मधुकर से	... ...	५९
४२—बंदी हृदय	... ...	६०
४३—जीवन रहस्य	... ...	६१
४४—प्रेम सहारा	... .	६२
४५—जीवन गति	... ...	६३
४६—उठान	....	६५
४७—विभूति का बंधन	... ...	६६
४८—साथी	... ...	६७
४९—हम मरें या कि उबरेंगे !	... ...	६८
५०—ओ जन जीवन त्राता	... ...	७०
५१—प्रभात	... ...	७२

अपना दृष्टिकोण

मैं कवि नहीं हूँ।

कवि होने का दावा न करते हुए भी मैं पाठकों के निकट कविता लेकर आया हूँ। ऐसा क्यों?

लड़कपन में दरिद्रता का मारा इधर-उधर फिरता रहा। संसार का कोई अपना नहीं होता; यही पाठ जगत की पाठशाला में पढ़ता रहा। १६२१ में जब पिताजी ने तिरंगा झंडा उठाया, तो १२ साल की उम्र मे ही अंगरेज़ों के प्रति नफ़रत और देशभक्ति, दोनों ही मेरे ख़ून में समा गये। जब तक मन में कुछ स्पष्ट नहीं था, तब तक अंगरेज़ों को साँप समझता था और साँप को मारा करता था। इसी प्रवृत्ति ने १७ साल की उम्र में क्रान्तिकारी दल में मुझे ला खड़ा किया।

पर इस बीच मेरी पढ़ाई न हो सकी। दरिद्रता के कारण इधर-उधर फिरते रहने में पढ़ाई सम्भव भी कहाँ थी। किन्तु हिन्दी अख़बार पढ़ने की रुचि बचपन से ही थी। फिर देशभक्ति के जोश में "आनन्दमठ" आदि उपन्यास और दूसरे राजनीतिक ग्रन्थ पढ़ गया। उस समय तक मैं कविता को यों ही समझता था। कविता पढ़ने को वक्त ख़राब करना मानता था। इस बीच १९३० का जन-आन्दोलन आ गया। इस आन्दोलन में मैं शुरू से ही था। पर महात्मा गाँधीजी के सिद्धान्तों को पूर्णरूप से मानना मैं ज़रूरी नहीं समझता था; इसीलिये अपने से गिरफ़्तार होने में मुझे आनन्द नहीं आता था। शायद इसीलिये जब पुलिस ने मुझे किसी तरह गिरफ़्तार किया, तो उसने सीधे 'सेल' में भेज दिया। 'सेल' में पढ़ने के नाम पर मेरे मन का कुछ न मिला। पर वक्त काटना भी थी इसीलिये "साहित्य विहार" बार-बार पढ़ता रहा।

और इसी के साथ-साथ मेरे मन में काव्य के अंकुर निकले। फिर 'सेल' की दीवालों पर और तसले पर कुछ यों ही लिखने और गुनगुनाने लगा। शायद यही गुनगुनाना मेरे लिये काव्य से प्रथम साक्षात्कार था।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि मैं कवि नहीं हूँ। पर मैंने कविता के नाम पर जो कुछ लिखा है, उसमें काव्य भी है; और जिनमें काव्य समझता हूँ, उन्हीं को यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ।

× × ×

जिस तरह पत्थर का टुकड़ा नदी के प्रवाह में पड़कर घसिटता हुआ कुछ रूप धारण करता है, वही हाल मेरा है। जब मैं चला, तो न कुछ ज्ञान था और न गन्तव्य निश्चित था। पर चलते-चलते सब कुछ ठीक हो गया। यही कारण है कि मेरी कविताओं में कहीं-कहीं ऐसी ध्वनियाँ हैं, जिनसे अब मेरा कुछ भी सरोकार नहीं है। जैसे ब्रह्म जैसी वस्तु, आत्मा और पुनर्जन्म कर्म सम्बन्धी पुराने सिद्धान्त। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि आगे चलकर अपनी कविताओं में मैं इनसे मुक्त न हो सका हूँ। इस संग्रह में "पंछी" नामक कविता से लेकर आगे की सभी कविताएँ आत्मवाद, ईश्वरवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को छोड़कर हैं। पर ऐसा हो सकता है कि कहीं-कहीं इन सिद्धान्तों के प्रभाव का भ्रम दीखे। जिन शब्दों या ध्वनियों से ऐसा भ्रम सम्भव हो, वहाँ यदि बार-बार पढ़ा जाय, तो बात स्पष्ट हो जायगी।

"पंछी" से पहले के काल में मैं आज के संघर्ष और उसके कारणों को समझ न सका था; लेकिन उसे समझने की ओर रुझान था। आज के संघर्ष के कारणों को समझने में मैंने अपने ढङ्ग से अपना जीवन भी लगाया; श्रेष्ठ विचारकों के विचारों और उनके जीवन को देखा। भारतीय समाज, उसकी बनावट, उसकी नाना व्यवस्थाओं और उन नाना व्यवस्थाओं के फल को भी मैंने गुरुवर डा० भूपेन्द्रनाथ

दत्त के चरणों में बैठकर देखा और समझा। भारतीय दार्शनिक चिन्तन और साहित्यिक परम्पराओं को भी मैंने इतिहास के नक़शे पर रखकर देखा। देखने पर भारतवर्ष की सभी समस्याओं में—जिनका दयनीय रूप में खुद था—श्रेणी संघर्ष मिला। और यह श्रेणी संघर्ष शायद वेद से भी पहले से चला आ रहा है। भारतवर्ष की नाना जातियों, उनकी साधनाओं, दार्शनिक चिन्ता धाराओं और समाज पद्धतियों में अलग-अलग भी और सामूहिक रूप से भी श्रेणी-संघर्ष साफ़ है। भारतीय साधनाओं और दर्शनों ने व्यक्ति को बदलने की कोशिश भी की है और व्यक्ति की समस्याओं को पूर्वजन्म के मत्थे भी मढ़ा है! उसने सामाजिक घात-प्रतिघात और उसका व्यक्ति से सम्बन्ध या तो समझा ही नहीं, या उसे समझने की कोशिश ही नहीं की। भारतीय ब्रह्म, विराट पुरुष, त्रिदेववाद, और ईश्वरवाद, सामाजिक समस्या को वैयक्तिक ढङ्ग से सुलझाने का व्यापक प्रयत्न है सही; पर उसके मूल में ही गलती और भ्रम है, इसलिये ही वह आज नितान्त निरर्थक सिद्ध हुआ है। स्व का, जीव के जीते रहने और जीते रहने के अधिकार का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह ठीक है; पर आत्मवाद तो आत्मा को समाज से महत् या समाज का भी पिता मानने को कहकर व्यक्तिवाद को पैदा कर देता है। और यह व्यक्तिवाद ही सम्पूर्ण मानव समाज का शत्रु है।

पर इसका यह मतलब भी नहीं है कि आत्मवाद, पुनर्जन्मवाद, और ईश्वरवाद की चिन्ताधारा द्वारा जो साहित्यिक-सम्पत्ति आज उपलब्ध है, वह त्याज्य है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि वह आज की सम्पूर्ण समस्याओं के समाधान में बेकार और अव्यवहार्य है। इसलिये आज के साहित्यकार को—और उस साहित्यकार को जो मन को प्रेरणा देता है—इन सब के संस्कारों तक से बचना ज़रूरी है। बिना ऐसा किये वह श्रेणी-संघर्ष विहीनप्रेरणा नहीं दे सकता। परसंस्कार से मुक्त होन बहुत कठिन बात है। और उस कठिन प्रयत्न

में मैं यदि कहीं असफल हुआ होऊँ, तो इसका यह अर्थ नहीं कि मैं उन्हें मानता भी हूँ।

यह तो हुई दार्शनिक विचार या दृष्टिकोण की बात। साहित्य के कलात्मक रूप के सम्बन्ध में मेरे विचार ये हैं। 'रस' भारतीय साहित्य की सर्वोपरि महत्वपूर्ण वस्तु। वह 'आत्मा वै सह' या 'रसो वै सह' के रूप में हमें स्वीकार्य नहीं है। पर 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहकर उसे गाली देने में हम अज्ञान समझते हैं। यह सही है कि पुराने आचार्यों ने रस के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसपर वेदान्त और सांख्य का अत्यधिक प्रभाव है। पर इसके साथ ही पुराने आचार्यों ने यह भी कहा है कि—"काव्य में एक ऐसी शक्ति होती है जो राम में से रामत्व और सीता में से सीतात्व आदि हटाकर साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में उपस्थित करती है। इस साधारणी वृत्ति रूप से, जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है, जब काव्यार्थ उपस्थित होता है, तो उसके फल स्वरूप सत्वगुण का उद्रेक होता है, और चिन्त स्वप्रकाश और आनन्द मय हो जाता है। क्योंकि प्रकाश और आनन्द दोनों ही सत्वगुण के धर्म हैं। इस प्रकार जो रस अभिव्यक्त होता है वह विश्वजनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक रागद्वेष नहीं होता। लौकिक भय-प्रीति-जनक व्यापारों से यह भिन्न होता है; क्योंकि इसमें व्यक्तिगत सुख दुख का स्पर्श नहीं होता।" (पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी) स्पष्ट है कि मूलतः रस में व्यक्ति-वाद नहीं घुस सकता।

रस के भोक्ता और कवि दोनों का सम्बन्ध संस्कारों से होता है। अपने युग के संस्कारों के कारण पुराने लोगों ने रसकी अभिव्यक्ति में ऐसे उपकरणों का प्रयोग किया, जिसके अन्दर श्रेणी-संघर्ष था; उन पर पूर्वजन्म, कर्म और ईश्वर का ऐसा संस्कार था, जिसके अन्दर से वह सामाजिक असन्तोष को व्यक्त कर ही नहीं सकते थे। और यह संस्कार इसलिये भी था कि उनके साहित्य का भोक्ता प्रभुवर्ग था और वह उस वर्ग को छोड़कर कुछ कर नहीं सकते थे। पर आज ऐस बात

नहीं है। आज हम ऐसे युग में आ गये हैं जब कि ईश्वर, आत्मा और पूर्वजन्म पर तथा कर्म के सिद्धान्तों पर भी वैज्ञानिक आलोक फेंककर उनके तथ्यातथ्य को देखा जा सकना सहज हो गया है। आज मानसिक संस्कारों और मनोविज्ञान पर भी समाज विज्ञान की रोशनी फेंकी जा रही है। आज प्रपुराने को नष्ट करके श्रेणी हीन समाज बनाने वाला एक सर्वहारा दल संगठित होकर पुरानी दुनिया को बदलकर नई दुनिया बनाने जा रहा है। इसलिये आज हम रस के साधारणीकृति वाले सिद्धान्त का राह ग्रहण बड़ी आसानी से कर सकते हैं। आज के युग में साहित्यकार और रस-स्रष्टा का यही आदर्श भी होना चाहिये।

मेरी राय में सच्ची कविता वही है, जिसके अन्दर साधारणीकृति द्वारा विश्वजनीन—अरूप—रस को रूप दिया गया है। रूपहीन कविता को कविता कहने में मुझे संकोच होता है। पर आज के युग में अरूप रस को रूप देना पुराने युग से ज़्यादा कठिन कर्म हो गया है। पुराने युग में बँधे बँधाए विचार, बँधे बँधाए भाव, बँधे-बँधाए छन्द और बँधे-बँधाए रूप भी थे। आज पुराने विचारों पुराने विश्व से और पुरानी धारणाओं पर लोगों का मन वैसे ही नहीं है, जैसे पुराने लोगों का था। पुराने विचार टूट रहे हैं और नए अभी बन नहीं पाए हैं। पुराने भावों में भी काफ़ी परिवर्तन हो चुके हैं। और पुराने छन्दों में नए भाव बँधने से इन्कार भी करने लगे हैं। इसके साथ ही दुर्भाग्य यह कि नया बन नहीं पाया है—अभी बनने के क्रम में है। ऐसी हालत में रस को मूर्त रूप देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इस युग में किसी ने विश्वजनीन रसको मूर्त रूप दिया ही न हो। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टाकुर ने रसको रूपमय करने के दुरूह कार्य को चारुता और सहज भाव से किया है। उनकी रूप सृष्टि को ज़रा गौर से देखने पर मालूम होगा कि वह पुराने शब्दों में नया अर्थ, पुरानी पद्धति में नए भाव, और पुराने

प्रतीकों में नई ध्वनियों के सहारे बड़ी तेज़ी से नये विचार और नई कला को विकसित कर रहे हैं—उसका गुणात्मक परिवर्तन कर रहे हैं। उनके युग में अन्य युगों से कहीं ज़्यादा मानव प्रधान हो चुका था; इसीलिये उन्होंने भगवान् के मन्दिर से भगवान् को हटाकर खेत में काम करते हुए किसानों और पत्थर तोड़ते हुए मजदूरों में भगवान् को स्थापित किया था। गुरुदेव पर पुराने संस्कार हैं। वह ब्रह्म और आत्मा को मानते हैं; पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं। पर युग का यह प्रभाव भी उनमें स्पष्ट है कि उनका ब्रह्म शोषकों का सहारा नहीं बन सका है; आत्मा को मानते हुए भी वह उसके वाद से बच सके हैं; पुनर्जन्म को शायद उन्होंने बौद्धिक संस्कारों में ही स्वीकार किया है। और उनका ऐसा मानना उनको पुराने भारतीय विचारों से अलग भी खड़ा कर देता है। और शायद यही कारण है कि मुक्तमन प्राण से उन्होंने समूचे मानव की एकता का उद्घोष किया है; मेघ-गम्भीर स्वरों में उन्होंने सभी के अत्याचारों का समान विरोध किया है। गुरुदेव के ऐसा हो सकने में एक यह भी कारण था कि सामन्त-वाद के टूटने से लेकर पूँजीवाद के चरम विकास—जिसमें उसका विकृत रूप आ गया था—को उन्होंने देख ही नहीं लिया था; बल्कि साम्य-वादी दुनिया का सौन्दर्य भी उन्होंने अपनी अनुभूति से समझ लिया था।

मेरी राय में रूप-सृष्टि की दुनिया में गुरुदेव की कला, गुरुदेव का तरीका ही पथ-प्रदर्शक है। इसी रास्ते हम अपने साहित्य में समाज के धरातल से चलकर समाज को बदल सकते हैं।

मैं यह नहीं कहता कि मैंने अपनी कविताओं में अपने विचारों को पूर्ण रूप से प्रतिफलित किया है। मेरा इतना ही कहना है कि मैंने अपने विचारों पर चलने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में सफल हो ना सामर्थ्य की बात है। और मैं अपने को उतना सामर्थ्यवान नहीं पाता। यह भी एक कारण है कि मैं अपने को कवि कहने में संकोच करता हूँ।

लेकिन मेरा यह संकोच उस समय तक काव्य-जगत् का संकोच रहेगा, जब तक लोक-जीवन, लोक-साहित्य और विश्व-मानव की सम्पूर्ण—आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक—अनुभूति से अनुप्राणित मज़दूर और किसान की दुनिया का साहित्यकार, रूप-स्रष्टा नहीं पैदा होता। आगे की दुनिया उन्हीं की है, हमारा काम है उनके लिये पथ प्रशस्त करना। यही इन कविताओं के प्रकाशन का उद्देश्य है और इसी में है इनका मूल्य।

अन्त में मैं संस्कृत के इस महावाक्य के साथ अपना कथन समाप्त करता हूँ:—

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति।

(चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है। सूर्य का परिश्रम देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।)

तुलसी पुस्तकालय
कलकत्ता
मागशीर्ष कृष्ण० ५, सं० २००१

—विनोद

अवरुद्धा

वह बुला रहा सागर मुझको,
पथ में यह ऊँचा गिरि कैसा ?
मैं तोड़ चुकी कितने गुरु-गिरि,
यह क्या है तुच्छ बाँध जैसा ?

तोड़ूँगी तोड़ूँगी इसको—
घहराती जाऊँगी आगे।
जिसको प्राणों की चाह अभी,
वह मेरे सम्मुख से भागे।

कण-कण संचित करके कब से
बन गया आज गुरु गिरि ऊँचा।
अपने में कितने रत्न छिपा,
पृथ्वी को कर ऊँचा-नीचा।

अपने लहराते अंचल में,
मैं आज छिपा लूँगी इसको।
जब प्रियतम का स्वर-स्रोत सुना,
तब बाधा-विघ्न कहें किसको?

कारा में प्रथम प्रभात हुआ,
तोड़ा उसको बाहर आई।
पथ में व्यवधान मिले कितने,
मैं कूद उमंगों में धाई।

घहरा-घहरा छहरा-छितरा
गिरि ऊपर अपनी राह बना।
इस तम धरा पर कूद चली,
जीवन उद्दाम प्रवाह बना।

दुखिया धरती सरसब्ज़ हुई,
कितने तरुवर जीवन पाय।
कितनों ने आ तट पर मेरे,
जीवन-मंगल गाने गाये।

मैंने करुणा का दान दिया,
मैंने जीवन का मान किया।
जग को रस-संचित करके ही,
मैंने यौवन-मधु पान किया।

मेरे अन्तर में लीन हुई,
कितनी द्रुत-धाराएँ आकर।
तन में मन में उल्लास बढ़ा,
मैं बिहंस चली नव-बल पाकर।

नव-बल नव-नव उन्मेष लिये,
जग-सिंचन आशा शेष लिये;
आई विराट प्रियतम-सम्मुख,
अपनत्व स्वत्व अवशेष लिये।

अब प्रियतम पद-रज लगी मैं,
गति मेरी क्या रुक सकती है?
तुझको सैकत-कण कर दूँगी,
रे गिरि तेरी क्या हस्ती है?

अपना आपा प्रिय को देने,
अपने को प्रियतम में खोने,
यौवन सर्वस की भेंट लिये,
आई हूँ प्रियतममय होने।

विधि से !

विधि, तू विधि या विधि सम्पति है ?

जीवन-सरिता की लहरों पर,
ढूँढ़ फिरा अब तक मैं जी भर,
निर्धन को सुख एक बबूला, लहरों में प्रतिपल कम्पित है।
विधि, तू विधि या विधि सम्पति है ?

जननी-जनक सुधा-सी संगिनि,
मन-दिग्मूल उषा-सी रंगिनि,
सब के मन में एक उदासी, शिशिर-मेघ जीवन कम्पित है।
विधि, तू विधि या विधि सम्पति है ?

मन में प्रतिभा, प्राण प्रभामय,
तन में तेज, भाव सेवामय,
सब मरु के लघुतम नाले हैं, यदि जन सम्पति से वंचित है !
विधि, तू विधि या विधि सम्पति है ?

नाविक-गान

घुमड़ आये नभ में घन घोर,
तरंगित जीवन-सिन्धु विशाल।
न तट का पता न तम का अन्त,
क्षुब्ध सागर की लहर कराल।

पथिक साहस न यहाँ तू हार।
सबल हाथों में दृढ़ पतवार।

अरे ओलों की अविरत मार
क्रुद्ध लहरों की जिह्वा लाल।
नाव डगमग यात्री भयभीत,
मृत्यु हो बनने चली निहाल।

कुशल नाविक मत हिम्मत हार।
सबल हाथों में दृढ़ पतवार।

बन्धु इतने साधन ले साध,
नाव पतवार आत्मविश्वास।
भूल आशा को हो न निराश
बढ़ा चल है यह मुक्ताकाश।

सिन्धु देगा रत्नों का हार।
सबल हाथों में दृढ़ पतवार।

फटी चदरिया

शिशिर-शीत अकचकी रह गई देख घिनौनी फटी लुगरिया।
लेटा ओढे फटी चदरिया।

अम्बर में झिलमिल तारे हैं,
हिम के भीषण अंगारे हैं,
तेज हवा सर सर चलती है—
मानों तीखे तम आरे है,

ओवरकोट कसे सब घूमें दुखिया पर कब पड़े नजरिया।
लेटा ओढ़े फटी चदरिया।

सूरज आया, जीवन आया,
नस नस में यौवन मुस्काया,
खा-पीकर दफ़्तर में बाबू,
पथ पर भूखे का रव छाया,

दो टुकड़ा रोटी दे माई, पेट पीठ मिल एक कमरिया।
लेटा ओढ़े फटी चदरिया।

हाड मास सब के ही तन में,
सुख की इच्छा सब के मन में,
देती प्रकृति समान सभी को—
सबल लूट लेते हैं छन में,

मानव का अपमान! अरे मानव ने कैसी धरी डगरिया!
लेटा ओढे फटी चदरिया।

समस्या

अपना मैं किसको कहूँ यहाँ ?
अपने अपने में सब भूले।
व्यापक विराट में दूर दूर
लघु नीड़ विभव में हैं फूले।
अपनेपन की मरीचिका में,
सब आज हुए हैं एकाकी।
संशय का सूत बना मानव,
भय-विभ्रममय गोपन बाकी।

अभिशाप

विश्व, क्षमा मत करना उनको !

लोह-कठिन निर्दय अन्तर हो, रेखा नहीं दया की कोई।
नहीं बूझते जो मानव-दुख, जिन आँखों ने करुणा खोई।
विश्व, क्षमा मत करना उनको !

काया की माया में फूले, अन्तर का अपनापन भूले।
जाति ग्रस्त है, जिनको भय हैं जग जीवन गति जिन्हें न छूले।
विश्व, क्षमा मत करना उनको !

जन हित हीन जगत के वासी, जिनमें जन हित सतत उदासी।
जो दुख का मुख देख न देखें, जो वैभव में निपट विलासी।
विश्व, क्षमा मत करना उनको !

धार्मिक बनकर जो विधान हित करते मानव-हृदय प्रताड़ित।
विश्वम्भर को अलग विलग कर, करे दम्भवश उसे प्रमाणित।
विश्व, क्षमा मत करना उनको !

इस निस्सीम गगन के नीचे, आत्म-रती को ठौर न देना।
अरे परीक्षा निखिल शक्ति की उन पर पूर्णतया कर लेना।
विश्व, क्षमा मत करना उनको !

दुर्दिन

तरु लो, यह अन्तिम पात चला।

अब तक जो सुख से साथ रहा,
अब तक तुषार आघात सहा,
अब तक जो धीर बँधाता था, उसका धीरज निर्बल निकला।
तरु लो, यह अन्तिम पात चला।

तुममें हरियाली शेष नहीं,
तुममें खुशियाली लेश नहीं,
इस मरु-जीवन से ऊब आज अन्तिम पत्ता कर घात चला।
तरु लो, यह अन्तिम पात चला।

कब साथ यहाँ किसका निबहा,
कब जग का अविचल प्रेम रहा,
दो राही मिल सुख-दुख बाँटे, फिर दोनों का पथ अलग चला।
तरु लो, यह अन्तिम पात चला।

प्रलय-ज्वाला

पद-पद पर दलन, दीन जीवन
जीने का रहा न अधिकारी,
भूखे-नंगे रहने वालो,
कर लो मरने की तैयारी।

माँगो न दया की भीख अरे,
अधिकारों पर मरना होगा,
छल कौशल के चट्टानों में,
विस्फोट तुम्हें करना होगा।

पल भर न रुको, बढ़ते जाओ,
ताण्डव-नर्तन की बेला है,
अब सर्वनाश उस संस्कृति का,
जिसमें मानव अवहेला है।

अपने अन्तरतम की ज्वाला,
ग्रामों-नगरों में धधका दो,
भूकम्प भयंकर करो और।
प्राचीन धरा को धसका दो।

पृथ्वी ज्वालामय गेंद बने,
ये नभ-चुम्बी प्रासाद जलें,
फिर सर्वदहन की लपटों में,
मानवता के अवसाद जलें।

सन्तोष-गरल से निर्मित यह
विधि का विधान जल जाय अभी,
धधको बनकर ज्वाला-स्फुलिङ्ग,
बन्धन-कड़ियाँ गल जायँ सभी।

रे अग्निपुत्र, भूखे मानव!
इस दैन्य-सिन्धु को सोख आज,
कञ्चन-निर्मित वैषम्य पुरी के—
दहन हेतु सज अनल साज।

मानवता के बन्धन सारे
अब छार-छार कर देने को।
धधको बनकर प्रलयज्ज्वाला,
स्वत्वाधिकार सब लेने को।

हुङ्कार

सर्वनाश की आग हमारे
अन्तरतम में धधक उठी है।
मिटने और मिटाने वाली—
क्रूर भावना भभक उठी है।

धधक उठी निर्धूम अग्नि अब
चिनगारी उड़ रही भयंकर।
दावानल-से फैल बनेंगे,
अरि के लिय आज प्रलयंकर।

प्रलयंकर बनकर भूतल पर
छार-छार जर्जर जग करने,
चूस रहे जो रक्त धरा का—
उन्हें धरा के उर में भरने।

अपनी इस अन्तर्ज्वाला से
ग्राम-नगर आलोकित करने,
भूखों की सूखी हड्डी में
महाप्रलय की ज्वाला भरने।

अपने-पन को आज मिटाकर
अपना-पन जग का हर लेंगे।
मूक निरीहों की वाणी में,
जन-जीवन का स्वर भर देंगे।

बनें खिलौने बाधाएँ ये
जो हैं हम सब का पथ घेरे।
अरे आज पद दलिता होगी,
स्वयं नियति यदि आँख तरेरे।

एकाकी हैं आज किन्तु हम
एकाकी मार्तण्ड बनेंगे,
नक्षत्रों को तेज दान कर—
तिमिर तिमिर-चर पुञ्ज हनेंगे।

नैसर्गिक मानवता के सब
बन्धन तुरत जला देने को,
अन्तर्ज्वाला धधक उठी है,
विषम विषमता हर लेने को।

सामर्थ्य

सिन्धु कब का मथ चुका, उससे निकाले रत्न कितने !
मानवी सत्ता लहर पर चल रहे जलयान इतने।
वह बना परवश हृदय के खोल कर सब भेद अपने।
और आगे बढ़ चला मैं देखता अस्पष्ट सपने।

व्योम-मण्डल के सितारों
का पता मैंने लगाया।
मुक्त नभ में उड़ रहा हूँ—
शब्द को भी बाँध लाया।

ज्ञान का दीपक जला कर छोर पृथ्वी के टटोले !
जान लेकर हाथ पर दोनों ध्रुवों के द्वार खोले।
सूर्य की बहु रश्मियों की देख ली सौन्दर्य-माला।
किन्तु मन आगे बढ़ा कुछ ढूँढ़ता दुर्गम निराला।

तुङ्ग नगपति शृङ्ग पर,
उल्लास उच्छल गीत गाऊँ।
मृत्यु-मुख में पैठ कर मैं—
अमृत के घट छीन लाऊँ।

विश्वकर्मा के करों की जो चरम उत्कृष्ट कृति है।
बात करता सूर्य से जिसमें भरी निस्सीम धृति है।
प्रबल झंझावात-सेवित अगम का पहला ठिकाना।
बन गया है आज मेरे सफल साहस का निशाना।

गौरि शंकर के शिखर पर,
प्रकृति-जय का केतु होगा।
मुक्त मानव के लिये जो
शक्तिदायक हेतु होगा।

पुरुष हूँ, पुरुषार्थ से ही शक्ति मेरे पास आई।
काल की निस्सीमता मेरी भुजाओं में समाई।
व्यक्त मेरे अंग में अव्यक्त मानस में बसा है।
बुद्धि मेरी विश्व के सारे रहस्यों की रसा है।

ज्वलित अंगारा हृदय में,
प्राण में सुख-शान्ति सोती।
भावनाएँ विश्व - हित में—
प्रेम के मोती पिरोती।

वहाँ

जहाँ प्रकृति शृङ्गार साज
जल-दर्पण में देखे छाया,
केकी नृत्य कूक कोयल हो
हो न पपीहे की काया।

जहाँ पयोद प्रेम से सींचे
बसुधा की प्यारी क्यारी,
फलें सुफल तरु पुष्प खिले हों
हरी भरी हो फुलवारी।

खेतों में मुसकाती हो
अभिलाषा कृषकों के उर की,
ग्रामों का सौन्दर्य देख
सकुचाये शोभा सुरपुर की।

युवकों में जीवन दीपित हो
दर्प भरा हो नस नस में,
गौरव से विनीत मस्तक हो
भरी मनीषा मानस में।

जहाँ अहमिका से मानव का
भ्रममय बन्दर-बाँट न हो,
गुरुता के मधु-राजरोग में
मानव निपट निचाट न हो।

रहे सरलता स्नेह हृदय में
आडम्बर का नाम न हो।
सुख से स्वर्णिम शान्ति विराजे,
अस्त्र-शस्त्र का काम न हो।

अपने को औरों में देखें
जीवन सहज उदार बने,
मैत्री-भाव पूर्ण अन्तस्तल
करुणा का आगार बने।

सत्य-सुधा कर पान जहाँ,
जन जीवन सफल बनाते हों।
चल रे मन! तू वहाँ, जहाँ
जाना नित देव मनाते हों।

मृत्यु-पर्व

उठ रहा तूफ़ान भीषण व्योम में छाई ललाई।
दश दिशाओं को कँपाती गूँजती हुँकार आई।
आज मानस में प्रमन्थन चित्त लोड़ित हो रहा है।
विश्व - पीड़ा - सिन्धु में विश्वास संज्ञा खो रहा है।

विकट बन्धन - बेड़ियों की,
श्रृङ्खलाएँ टूटती हैं।
वन्हि अन्तर की धधक
ज्वालामुखी-सी फूटती हैं।

काल मानो आज खुलकर मृत्यु-पर्व मना रहा है।
रुद्र - डमरू डिमडिमाता प्रलय मंगल गा रहा है।
जल रहे प्रासाद सारे घोर हाहाकार छाया।
नाश की दारुण घड़ी में कौन है अपना-पराया?

प्रबल उल्कापात है,
प्रलयंकरी ज्वाला जगी है।
कान्ति की इन लोल लपटों में—
रसा जलने लगी है।

जाय जल विश्वास वह, जिससे मनुजता है विभाजित।
बन्ध वह गल जाय, जिससे प्रेम मानव का पराजित।
भक्ति वह छुट जाय, जिसमें भ्रमित है मति आत्मा की।
शक्ति वह मिट जाय, जिसमें रुद्ध है गति आत्मा की।

ज्ञान - अभिनव - लोक में,
नव-जगत् का निर्माण होवे।
प्रेम में जन - मन रंगे,
सुख - दुःख का सन्ताप खोवे।

प्रेमी की कामना

देवि, मनोमन्दिर में मेरे क्यों अधिकार जमा
किस आशा, किस अभिलाषा से आसन यहाँ बिछ
मन्द-स्मिति की आभा से क्यों चकाचौंध फैल
मरु-प्रदेश को किस दिन के हित नन्दन विपिन बन

मैं दरिद्र हूँ, पद-पूजन का,
साधन मेरे पास कहाँ है ?
देवि, रक्त की कुछ बूँदों से,
निर्मित केवल हृदय यहाँ !

प्रिये निर्यात के काले पट पर कैसा रंग चढ़
किस भविष्य के सुख-स्वप्नों की चित्रावली बन
नहीं जानती क्या इस जग की निर्दयता निर्म
सुख में दुख की ज्वाला भरने वाली इसकी छा

बोलो बोलो कुछ तो बोलो,
केवल हँस कर चुप न रहो तुम।
क्यों प्राणों से खेल रही हो,
कुछ तो निज उद्देश्य कहो तुम ?

हैं, यह क्या ! तव चन्द्रानन पर यह विषाद की काली रेख
नयन-कमल करुणार्द्र हो उठे किन मार्मिक भावों को देख
क्षण में हास्य, रुदन भी क्षण में, क्षण में तम, क्षण में आलोक
इस रहस्य के पर्दे में तुम क्या उद्वेग रही हो रोक

अज्ञ जगत् की निष्ठुर गतिविधि,
करती है क्या चंचल मन को ?
जिसने कसा कठिन बन्धन में,
अरे प्रेम के कोमल तन को ?

अरे प्रकृति के नियमों पर भी जिसकी अद्भुत सत्ता है
पुण्य-पाप पर छाप लगाती, जिसकी अजब महत्ता है
तृप्त रहे यदि तृप्ति उसे हो, अरे तुच्छ मिट्टी लेक
स्वर्ण समर्पित किन्तु हो चुका देवि तुम्हारे चरणों प

पाप-पुण्य से परे प्रेम है,
प्रेम मुक्त है प्रेम अभय है।
प्राणों का परिणय मंगलमय,
मृत्युलोक में मृत्युञ्जय है।

वाञ्छाओं की समिधा दूँगा, स्मृति-घृत की आहुति
लपटें धधक उठेंगी नभ में, होगा जग का मन
जो कुछ भी अपना है उसको उसमें कर दूँगा स

प्रेम-पन्थ का अन्त यही है,
पर मेरा आराध्य यही है।
प्रिये निरापद सुखी रहो तुम,
इस प्रेमी की साध यही है।

इन्द्रजाल विलासिनी

छा गईं अन्तर्जगत में—
आज अन्तर्वासिनी तुम
मूर्ति तव मम दृग बसी है,
भाव-जग अधिवासिनी तुम
ढूँढ़ता, पाता न तुमको, पर झलक जाती कहीं तुम
गीत में जब बाँधता हूँ, बँध खसक जाती कहीं तुम
सघन - घन में दीप्ति-रेखा,
स्मृति - गगन में चन्द्रलेखा,
हाय, पाकर भी न पाता,
इन्द्रजाल विलासिनी तुम
अब धमनियों में, हृदय में, चेतना में गति बनी तुम
दुःख सुखमय, सौख्यमय दुख आज मेरे प्रति बनी तुम
भावना - मानस - मराली,
स्नेह-तरु की मञ्जु लाली,
प्राण से ही खेलती हो,
प्राण की बन स्वामिनी तुम

बिदा

सखि, सम्हालो लोचनों में,
वेदना के विन्दु अ
रोक लो प्रिय मधुर रस,
मरुभूमि में गिरने न प
काल-निर्मित कामना ने साधना के मन्त्र प
आज मन की चित्ररेखा में सभी रँग हैं सम
क्रूर दृग हैं जगत - जन के,
रुद्ध उनके द्वार मन के,
सखि छिपा लो चित्र यह,
देखो नज़र लगने न प
हृदय-मन्थन हो रहा जो इन मिलन-बिछुड़न छिनों
बूँद देंगे अमृत के अद्वैतता के उन दिनों
जब कि बन्धन मुक्त होकर,
भिन्नता के रूप खो कर,
प्राण, सखि एकात्म होंगे,
प्रणय-शास्वत में रँगा

स्मृति

सखि, मिलन के मंदिर-क्षण वे,
अब बने आधार मेरे।
कुछ क्षणों की बात पर थे,
स्वाँस के व्यापार मेरे।

अधर-पल्लव पान से अब तक हृदय मेरा हरा है।
परस-रस-सिंचित सरस अँग-अँग यौवन-मद भरा है।

व्याप्त हैं वे स्मृति - गगन में,
मन मगन मधुमय लगन में,

पर निठुर की चेतना में,
क्या मिटे अधिकार मेरे?

विश्व - पीड़ा व्याप्त पी के दिग्दिगन्ताकाश में है।
छटपटाती वेदना मेरी नियति के पाश में है।

कौन अन्तर - पट पड़ा है?
रोध क्या मग में बड़ा है?

सखि तृषातुरता बढ़ी,
आये न प्राणाधार मेरे।

अभिशप्ता

प्राण प्यासे हैं हमारे, मैं नदी-तट पर
हाय, जल पीना म

दूर से मैं आ रही हूँ,
दूर बढ़ती जा रही हूँ,
बालुकामय तप्त-पथ में
प्यास से मुरझा रही हूँ,

नाद कलकल जब सुनी, तब मैं उधर ही च
हाय, जल पीना म

सरिता बिहँसती बढ़ रही,
गतिशील-जीवन पढ़ रही,
अपनी विमलता बाँटती-
नित नव-व्यथा से कढ़ रही,

मैं आचमन को जब झुकी, सम्मुख कड़क बिजल
हाय, जल पीना म

आज आकुल है पिपासा,
चूमती है चरण आशा,
किन्तु कब का शाप जगकर,
कर रहा जीवन निराशा,

तृप्ति जिस दम थी समझती, मृत्यु की थी वह घड़ी!
हाय, जल पीना मना है!

उर में मधुर अरमान ले,
मन में विकल अभिमान ले,
मैं आज स्वप्न-समाधि हूँ-
जग से तृषा का दान ले,

आज सरिता के किनारे मैं पिपासाकुल पड़ी!
हाय, जल पीना मना है!

स्वप्न देखा

सिन्धु के उस पार प्रीतम का सजीला देश !
री सखि, स्वप्न देखा !

हरित पट पहने धरा है,
कल्पतरु उपवन हरा है,
सुमन - बाला बिहँसती-
मधु-कोष कण-कण में भरा है,

सहसदल पंकज लजावन वह रंगीला देश !
री सखि, स्वप्न देखा !

काँस-कुश के घर कहाँ हैं,
शान्ति के वैभव वहाँ हैं,
प्रेम-मस्तानी पुरी है,
प्रेम परमेश्वर वहाँ हैं,

सखि, कुटी में थे सजन, उनका अनोखा वेश !
री सखि, स्वप्न देखा !

हो गये जब चार लोचन,
नयन से बरसे विरह-घन,
युगल-भुज आगे बढ़े-
तब मुँद गये सुख-भार लोचन,

दृग खुले तब हा सजन ! हा, हा, कहाँ वह देश ?
री सखि, स्वप्न देखा !

संगिनी हूँ उस सजन की,
प्रेमिका हूँ प्राणधन की,
तोड़ भव-बन्धन चलूँगी-
धुन समाई मधु-मिलन की,

स्वप्न वह मुझमें बसा मैं भी बसूं उस देश !
री सखि, स्वप्न देखा !

उसको भला कैसे बिसारूं ?

वास जिसका प्राण में—
उसको भला कैसे बिसारूँ !

विगत जन्मों में हुआ था,
शापवश बिलगाव अपना,
थे बिलग दोनों कहीं पर—
प्राण में था भाव अपना,

भाव अपना मिलन - आतुर,
स्मृति-जगत् का था निवासी,

रूप - जिज्ञासा हुई तब,
देखता था सुखद सपना।

सुखद सपनों में समाई,
साधना बन कर दिवानी,

भावना मय चाह थी—
प्रिय के लिय सर्वस्व वारूँ।
वास जिसका प्राण में—
उसको भला कैसे बिसारूँ ?

धूप जल, मिल वायु में,
फिर धूप का ही रूप धरता,
सलिल उठकर रवि-किरण से,
फिर धरा का ताप हरता,

भाव शब्दों में सिमिटते,
नील - नभ में लीन होकर,

मिट रहा जो दीप तिलतिल,
वह तिमिर का नाश करता।

साधना ने सिद्धि पाई,
दी दिखाई प्रेम-प्रतिमा,

किन्तु, पिंजरबद्ध वह—
किस यत्न से उसको उबारूँ ?
वास जिसका प्राण में—
उसको भला कैसे बिसारूँ ?

सहज निर्झर-गान-सी शुचि,
सिन्धु में सरिता मिली-सी,
मम हृदय-सर में उगी जो—
अधखिली पंकज-कली-सी,

मन-मधुप जिसमें समाया,
प्रणय-रस में लीन होकर,

प्राण - मन्दिर में बिराजी,
मूर्ति जो भोली-भली-सी,

काल - क्रम की राह पर चल,
बन गई जो भाग्य - रेखा,

हन्त ! वह विधि - वर्जिता !
किस भूमि पर उसको उतारूँ ?
वास जिसका प्राण में—
उसको भला कैसे बिसारूँ ।

मेट कर व्यक्तित्व अपना,
प्रेममय अब हो चुका हूँ,
मधुर-चिन्तन-जलधि में—
अस्तित्व-तरणी खो चुका हूँ,

शून्य - नयनों में बसाकर,
वेदना का राज सूना,

आजतक के कलुष-कल्मष,
नयन-जल से धो चुका हूँ,

पाद-पंकज इधर कर दो,
आज जीवन देवता हे !

तव चरण-नख-ज्योति पर,
यह मन्द जीवन-दीप वारूँ ।
वास जिसका प्राण में—
उसको भला कैसे बिसारूँ ?

परदेशी

चलता हूँ, चलना ही जानूँ, जानू न विभव भव दरवेशी।
सखि, मैं राही मैं परदेशी!

युग युग से हूँ चलता आता,
भूला अनगिन रिश्ता-नाता,
गति में बढ़ता, गति को भूला,
चलता हूँ, बस चलता जाता,

कितने मधु-मय उपवन छूटे, छूटीं कितनी सौरभ - केशी।
सखि, मैं राही मैं परदेशी!

कुछ ने कुछ क्षण का साथ दिया,
कुछ क्षण का अपना भाग लिया,
रँग ले, रँग दे अपने मन का—
रँगों मय अपना पंथ किया

रँग की मरीचिका में कुछ क्षण भूला अपनी दूरन्देशी।
सखि, मैं राही मैं परदेशी!

तुम बाँध न पाओगी मुझको,
तुम साध न पाओगी मुझको,
गति हूँ, गति है अपनी हस्ती,
गति से न हटाओगी मुझको,

कब रोक सकी अब तक मुझको जग की छलना मादक-वेशी।
सखि, मैं राही मैं परदेशी!

प्रेम की समस्या

कुछ क्षणों विश्राम कर लूँ ठौर वह पाऊँ कहाँ मैं ?
यन्त्र अन्तर में बसा है।

व्याप्त है आकाश ऊपर,
व्याप्त झंझावात भू पर,
लुप्त है अवकाश मन का,
रोक है जीवन-प्रसू पर,

कुछ क्षणों को उदर-चिन्ता से निपट आऊँ कहाँ मैं ?
यन्त्र अन्तर में बसा है।

विकट रजनी में सितारे,
विकट जलनिधि रत्न धारे,
मनुज मन शंकित भयाकुल,
मिट गये विश्वास सारे,

तप्त निजता के निपट मरु से निकल जाऊँ कहाँ मैं ?
यन्त्र अन्तर में बसा है।

काम में आबद्ध यौवन,
अङ्क में आबद्ध जीवन,
अर्थ में आबद्ध तन मन,
है विकारी मनुजता धन,

किन्तु मानव - प्राण की गति मति भला पाऊँ कहाँ मैं ?
यन्त्र अन्तर में बसा है ?

रूप अरूप

आँक दे जो प्राण-छवि वह तूलिका पाऊँ कहाँ मैं ?
रूप-रस में नयन माते !

सुमन सुन्दर रंगमय बन,
कर सुरभि बेसुध प्रभंजन,
खिल झरा पर रच न पाया,
प्राण-व्यापी रूप-यौवन,

चेतना की तूलिका ले, मनुज बन आया यहाँ मैं।
रूप-रस में नयन माते।

जब जिधर भी झाँक देखा,
तूलिका ने आँक देखा,
प्राण-छवि रेखा बनी कुछ,
फिर नटी की घूम्र-लेखा,

भटकता फिरता युगों से और अब जाऊँ कहाँ मैं ?
रूप-रस में नयन माते।

ढूँढ़ता हूँ रूप अपना,
देखता निज रूप सपना,
रूप अपना पा न पाता,
बस यही विरहाग्नि तपना,

रूप-मद माते दृगों को हाय फुसलाऊँ कहाँ मैं?
रूप-रस में नयन माते

रूप जो दृग में बसा है,
रिक्त उससे यह रसा है,
आँक दूँ कैसे उसे हा!
जीव जड़ता में फँसा है,

किन्तु फिर भी चाह मन में रूप वह लाऊँ यहाँ मैं।
रूप-रस में नयन माते।

गति की ओर

बन प्रबल हिल्लोल मय छूने चला जग छोर।
जीवन आज गति की ओर।

कब कहाँ कोई पराया,
एक दुख - सुख एक काया,
मृत्यु - जीवन एक सबका,
एक सब की विश्व-माया,

पर अहमिका-जाल में मति भ्रमित थी सब ओर ?
जीवन आज गति की ओर !

भिन्नता के बाँध टूटे,
एकता के ज्ञान छूटे,
है सभी में एक प्रियतम,
मिलन का वरदान लूटें,

प्रेम-सूरज की प्रभा में अन्ध-तम का भोर,
जीवन आज गति की ओर।

सब हृदय में आज आयें,
रक्त में घुल-मिल समायें,
नस-शिराओं रोम-कूपों—
में चरण-रज डाल जायें,

आज मानव-चरण-तल में है छिपा चित-चोर ?
जीवन आज गति की ओर।

देवता तू आप अपना

ओ प्रपीड़ित ! ओ प्रवंचित, दलित तम में लीन।
उठ, अब कर न जीवन क्षीण।

मूक रह, सब भाग्यवश कह,
जठर - ज्वाला - यातना सह,
दैन्य की जलती चिता में,
आज तक तन प्राण से रह,

ओ प्रपूरण प्राणधर्मा ! बन न आज मलीन।
उठ, अब कर न जीवन क्षीण।

मिट गये भूदेव वे सब,
चल बसे नरदेव वे सब,
मनुज से करते घृणा जो,
मनुजता से हेय वे सब,

'मनु' मनुज-ध्वंसी-व्यवस्था पाप-ताप अधीन।
उठ, अब कर न जीवन क्षीण।

देवता तू आप अपना,
स्वर्ग का मत देख सपना,
फूँक दे विश्वास वे सब,
भाग्य वश जिसमें कलपना,

प्राण-धारा अमणी ओ! प्राण में हो लीन।
उठ, अब कर न जीवन क्षीण।

अन्न का अधिकार सम ले,
ज्ञान का अधिकार सम ले,
और जीने के लिय—
मानव-सुलभ व्यापार सम ले,

मुक्त हो कर ओ प्रपीड़ित, देश कर स्वाधीन।
उठ, अब कर न जीवन क्षीण।

तोड़ो भव के बन्धन तोड़ो

स्वर्ण-शृङ्खलाबद्ध ज्ञान को जन-गण जीवन में छोड़ो।
तोड़ो भव के बन्धन तोड़ो।

जो जड़ में चेतन रूप हुआ,
जो जड़ प्रकृति का भूप हुआ,
जल थल नभ में चलता चलता,
जो नित्य पुरुष का रूप हुआ,

अपनी जड़ता में जड़ित वही, उसके मन की जड़ता फोड़ो।
तोड़ो भव के बन्धन तोड़ो।

जिसके भुजदण्डों के बल से,
जिसकी प्रतिभा के कौशल से,
मुग्धा धरती ने स्वर्ण दिये,
सागर वश है जिसके कल से,

वह अपनी ही जञ्जीरों में, उसकी जड़ जञ्जीरें तोड़ो।
तोड़ो भव के बन्धन तोड़ो।

आघात प्रकृति के सहने को,
धरती पर जीवित रहने को,
धन-धान्य किया अर्जन जिसने,
जीवन मधु धारा बहने को,

जीवन-धारा का बाँध वही, उसको खर धारा से फोड़ो।
तोड़ो भव के बन्धन तोड़ो।

मन की गाँठें खोल

दो दिन के इस संग साथ में खुल-खिलकर हँस बोल।
भाई मन की गाँठें खोल।

मिल-जुल एक धरा पर आये,
एक तड़प कम्पन में लाये,
एक असीम गगन ऊपर है—
एक प्रकृति पोषक पय पाये,

इस धरती पर सम हम दोनों अन्तर तनिक टटोल!
भाई मन की गाँठें खोल।

नयन-दीप्ति में एक चमक है,
तन में एक समान दमक है,
प्रकृति दान दिन-रात सदा सम—
एक भूमि की एक गमक है,

जीवन जड़ क्रम एक, बन्धु ले ज्ञान तुला पर तोल।
भाई मन की गाँठें खोल।

भय-विभ्रम का सपना आया,
गत पशु-जीवन का क्रम लाया,
स्वार्थ असीम बँधा सीमा में—
'मैं' 'तू' संगोपन तम छाया,

क्षुद्र अहमिका के बन्धन से मुक्त पुरुष को खोल।
भाई मन की गाँठें खोल!

मूरख मन तू समझ न पाया

भक्ति-भाव के तीखे मद में बरबस खो दी मानव-काया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

जिसे देवता कहकर माना,
निशि दिन जिसका सुयश बखाना,
जिस पर सब कुछ किया समर्पण,
मुक्ति-प्रदाता जिसको जाना,

वह अब केवल ओट ठगों का जन-जीवन जिसमें भरमाया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

जिसे देव भूदेव बखाना,
जिसकी ध्वनि जीवन-क्रम जाना,
जीवन की व्यापक गति-विधि का
जिसको सदा नियामक माना,

वह जन-जीवन का बन्धन है, धर्माडम्बर उसकी माया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

जिसे अन्नदाता कहता है,
जिसके हित भूखों रहता है,
कहकर राजा, बाबू, मालिक—
वर्षा शीत तपन सहता है,

तेरे तरल पसीने से ही निर्मित उसकी कंचन काया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

दीन-हीन अपने को जाना,
अपनी शक्ति नहीं पहचाना,
ज्ञानहीन तमलीन बना खुद—
औरों को विधि-व्यापक माना,

विधि तू अपना विश्व-विधाता, तू ने जग-जीवन प्रकटाया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

मानस-सत्य

मेरे मानस भाव - रत्न,
छिप जाना अतल-वितल में।
व्यथा-विलोड़न से न कहीं—
आ जाना नयन-कमल में।

इन कमलों में खारा पानी, चंचल पलकों में नादानी।
बूँद बनोगे, ढुलक पड़ोगे, कौन सुनेगा कथा-कहानी?
जग स्वारथ मय जड़-अभिमानी!

मेरे मानस भाव - रत्न,
छिप जाना अतल-वितल में।
स्वासों का सँग कर मत आना—
वाणी के अँचल में।

वाणी में विभ्रम है भय है, जग-रुचि मयता का आशय है।
सत्य यहाँ सपने की बातें, जन-गण में अद्भुत संशय है।
जन-जीवन में मृत्यु समानी!

मेरे मानस भाव - रत्न,
जीवन में लय हो जाना।
गति-मति-मयि संसृति में होकर—
जन - जीवन में आना।

नयनों में सम्यक् अवलोकन, वाणी में सम्यक् वाचा बन।
सम्यक् कर्मरूप जन-हित-सुख जगती में छा जाना।
तुम कर्मरूप में आना।

पंछी

हल्कापन बल हो पंखों में गगन बिहारी-चाल।
पंछी अपने पंख सम्हाल।

बाग बनों में विचरण करना,
डाली-डाली का मन हरना,
अपने मधु-गायन से बन का,
कोना-कोना मुखरित करना,

किन्तु, वृक्ष शाखा भू पर दो नजरें लेना डाल।
पंछी अपने पंख सम्हाल।

कुछ फल खाना और गिराना,
कल की चिन्ता कभी न लाना,
दिन में काम विराम रात में,
जीवन का क्रम सहज निभाना,

आश्रम-नीड़ रहे क्षण भर को, मुक्त रहे पर चाल।
पंछी अपने पंख सम्हाल।

मुक्त गगन में तेरा डेरा,
भू-मण्डल पर तेरा फेरा,
जगती तेरी तू जगती का,
जीवन पर उद्यम का घेरा,

पंखों में हल्कापन बल हो, पकड़ न पाये काल।
पंछी अपने पंख सम्हाल।

जीवन-प्रवाह

ढालूपन गति है अपने में, लहरें गति-मद मातीं।
नदियाँ नित ढलाँव पर जातीं।

कल-कल छल-छल लहरें आतीं,
अपनी गति से राह बनातीं,
तोड़-फोड़ गिरि को गह्वर को,
विजय पर्व पर हर्ष मनातीं,

धरती में जीवन सरसातीं, जीवन में मुसकातीं।
नदियाँ नित ढलाँव पर जातीं।

रजत-रेत नीचे बहती है,
जीवन की गाथा कहती है,
कन-कन गिरि, गिरि में कन-कन है—
बिखर दुसह विपदा सहती है,

सर्व-प्रवाही सरि में बह कर अपनी गति-मति पातीं।
नदियाँ नित ढलाँव पर जातीं।

लहरें लहरों पर लहरातीं,
तट से चुप-चुप कुछ कह जातीं,
इधर छोर उद्गम का छू कर—
उधर सिन्धु में लय हो जातीं,

फिर गिरि सोता सरि लहरों में जीवन छटा दिखातीं।
नदियाँ नित ढलाँव पर जातीं।

प्रातर्वेला

अन्ध तमिस्रा भेद चला आता है नभ में सहज उजेला।
मुरगा बोला, प्रातर्वेला।

सिमिट रही है रजनी काली,
क्षितिज-छोर पर छाई लाली,
तारे अपना तेज दे रहे—
मुसकाता आता बनमाली,

नीड़ों में पंछी का कलरव, जन-नयनों में जीवन खेला।
मुरगा बोला, प्रातर्वेला।

जग अनजाना, पथ अनजाना,
यहाँ अतीत बना बेगाना,
तोड़ सबल स्मृतियों के बन्धन,
सोच-समझ नित बढ़ते जाना,

अग्निकुण्ड से प्रकट हो रहा मानवता का देव अकेला।
मुरगा बोला, प्रातर्वेला।

अरुण प्रभा वसुधा पर छाई,
नव शंखध्वनि नभ से आई,
मानव-सत्य प्रकट धरती पर,
लेता है नवयुग अँगड़ाई,

मंगल-घट उसके हाथों में, जिसने हँस जग का दुख झेला।
मुरगा बोला, प्रातर्वेला।

आशंका

किरणें बिखर रही थीं नभ में रवि पर काले घन घहराये।
नभ में काले घन घहराये।

जन-जीवन का भाग जगा था,
मानवता का राग जगा था,
जर्जर हीम निराश्रित मन में—
सुख का सहज सुहाग जगा था,

देख निशा का अन्त, निशाचर बादल बन रवि पर घिर आये।
नभ में काले घन घहराये।

बरसाते घन शोणित-धारा,
भीज रहा वसुधांचल सारा,
आज रक्तमय जल-थल अम्बर,
सूझ न पाता कूल-किनारा,

चारो ओर गगन मण्डल में काले-काले घन मंडराये।
नभ में काले घन घहराये।

जन-जीवन में अद्भुत गति है,
रुद्र-क्रुद्ध झंझा की मति है,
जीवन के तीखे झकोर में—
विकट घनों की मधु परिणति है,

किन्तु हाय! मन काँप रहा है, फिर न जगत में तम छा जाये।
नभ में काले घन घहराये।

नोट—सोयत् रूस पर जर्मनी के हमला के समय रचित।

ज्योति जगी

आज परायापन टूटा क्या अपना बन्धन छूट गया ?
लग रहा पुरातन विश्व नया।

वे मादक चिन्तन छूट गये,
वे मोहक सपने टूट गये,
अपने सुख-दुःख की बात गई—
प्यासे तृष्णा-घट फूट गये,

जन-हित-सुख की अभिलाषा में भावी-सुख-क्रन्दन छूट गया।
लग रहा पुरातन विश्व नया।

मानव-हित का वरदान जगा,
जीवन का अभिनव गान जगा,
मानव-हित लोल-लहरियों में—
सेवा-सुख-स्वत्व समान जगा,

जन-जीवन-ज्योति प्रदीप्त हुई, मूरत अभिनन्दन छूट गया।
लग रहा पुरातन विश्व नया।

जन-रज में आत्मविसर्जन है,
जन-रज में सब कुछ अर्जन है,
उतरेगा स्वर्ग धरातल पर,
जन-जीवन आज जनार्दन है।

मानव-मन मुक्त हुआ भव में, अब पूजन अर्चन छूट गया।
लग रहा पुरातन विश्व नया।

रलमिल जा

सब से अपना नाता-रिश्ता, सब से अपनी पहचान यहाँ।
मिटते बनते नित मान यहाँ।

मन में न कहीं कुछ चाह रहे,
दिल में न कहीं कुछ दाह रहे,
लहरों में एक लहर जैसी—
जीवन की अपनी राह रहे,

अपनी गति औरों को देकर मिटने का हो अभिमान यहाँ।
मिटते बनते नित मान यहाँ।

लहरों में पानी पानी है,
हिलकोरों में नादानी है,
लहरों की हाय पकड़ कैसी—
भूली दुनियाँ दीवानी है,

लहरों में रलमिल बह जाना, जीवन का सीधा ज्ञान यहाँ।
मिटते बनते नित मान यहाँ।

जन-जीवन में अनुराग जगे,
मानव के अभिनव भाग जगे,
श्रम में नव-नव उन्मेषमयी—
प्रतिभा का सहज सुहाग जगे,

जन-मन में अपना नूर बसे, अपने को ले पहचान यहाँ।
मिटते बनते नित मान यहाँ।

हम हैं जन-जीवन के प्रेमी

जिह्वा से मीठी-मीठी, मन में विषधर की घात लिये।
प्याले में दूध, दूध में विष, नत-वाणी में उत्पात लिये।
सच में छल का कौशल सुन्दर, करुणा में अपना काम लिये।
अध्यात्मजनित भावुकता में स्वारथ का कटु अंजाम लिये।

हम नहीं धर्म के ढोंगी हैं।
हम नहीं धर्म के परवाने!

वह धर्म कि जिसके प्रथम चरण में ऊँच-नीच का भाव भरा।
वह धर्म कि जिसके दर्शन में जन एकीकरण अभाव भरा।
जन-जन का कर्म अलग जिसमें, जन मुक्ति विश्व से परे जहाँ।
ईश्वर का रूप जहाँ राजा, जन-हित-सुख चिन्ता वहाँ कहाँ?

हम नहीं पुजारी मूरत के।
हम नहीं मुक्ति के अभिलाषी!

संस्कृति के ऊँचे प्रासादों का रूप-रंग देखा भाला।
उनके कंगूरों के नीचे भी मिली हमें दाहक ज्वाला।
जिनके बल कुदरत को जीता, उनके सिर राम कटार तनी।
है ज्ञान हराम वहाँ उनको, यह संस्कृति ही अभिशाप बनी।

हम अपने सुख में गर्क नहीं।
हम हैं जन-हित करुणा-धारा!

लहरों में अलग न एक लहर, सब तरल सिन्धु की चल धारा।
सब की गति में सबका श्रम है, कर्मों की गति चंचल पारा।
जन-हित-सुख में अर्पित जीवन, नयनों में करुणा कल्याणी।
कर्मों में सम्यक् तत्व बसा, सच से पावनतम है वाणी।

हम हैं जन-जीवन के प्रेमी।
मानव संस्कृति के अभिलाषी!

जीवन की अभिनव धारा में व्यक्तित्व कहाँ अस्तित्व कहाँ?
किसका स्वामी, सेवक किसका, सेवा-सुख में स्वामित्व कहाँ?
जगती में कोई ग़ैर नहीं, अपनों से मान-अपमान कहाँ?
छोटी दुनिया, छोटा प्राणी, मानव-प्रज्ञा अभिमान कहाँ?

हम हैं मानवता के सहचर;
हम हैं जन-जीवन के ज्ञानी!

नोट—एक मित्र ने कहा था—"तुम धर्म को, ईश्वर को और संस्कृ को नहीं जानते, इसलिये तुम्हारी बातें निराधार और बकवास है।" उन मित्र के जवाब में यह कविता लिखी गई।

हद में बेहद

हर दिल के पर्दे-पर्दे में बेहद का हद में मेला है।
कब कोई यहाँ अकेला है?

गति में कण का अस्तित्व कहाँ?
जन-जीवन में व्यक्तित्व कहाँ?
चञ्चल गति जीवन के क्रम में—
आ सकता है स्वामित्व कहाँ?

पल पल में पट परिवर्तन है लहरों लहरों का रेला है।
कब कोई यहाँ अकेला है?

लहरों का लहरों में नर्तन,
हर लहर-लहर में परिवर्तन,
चञ्चल लहरों का आपस में—
हो रहा विवर्तन आवर्तन,

हर लहर-लहर हर पल हर दम पिछली लहरों का ठेला है।
कब कोई यहाँ अकेला है?

कोई न यहाँ ऊँचा-नीचा,
कोई न किसी का है सींचा,
लहरों में जैसा द्वन्द हुआ—
वैसा ही सब ने क्रम खींचा,

बहती सहस्र धाराओं में जीवन क्रम एक अकेला है।
कब कोई यहाँ अकेला है?

अभिनव वंशीवाला

नभ में गूँजा संगीत मधुर, आया मोहन वंशीवाला।
संसृति का कण कण मतवाला।

नीड़ों में पंछी बोल रहे,
प्राणों में अमृत घोल रहे,
मूकों ने पाये कण्ठ मधुर—
जीवन के बन्धन खोल रहे,

दुख-रजनी का यह अन्त प्रहर छमछम नाचा डमरूवाला।
संसृति का कण कण मतवाला।

सुर-साधक की ध्वनि आई है,
जन-गण छाती हुलसाई है,
नयनों में जीवन-ज्योति जगी—
छिति पर अरुणाई छाई है,

लो किरणें नाच उठीं नभ में, अब चहुँमुख व्यापक उजियाला।
संसृति का कण कण मतवाला।

नाचे धरती अम्बर नाचे,
नाचे जलचर थलचर नाचे,
मानव जड़ता से मुक्त हुआ—
नाचे अन्तर का स्वर नाचे,

अधरों में स्वर-सन्धान लिये आया अभिनव वंशीवाला।
संसृति का कण कण मतवाला।

जय जन-वाणी

मादक पवन, विमोहक अम्बर, जीवनमय जन-गण वाणी।
मुक्त मुदित मानव प्राणी।

रजत हिमानी धौत धरातल,
शुभ्र सरित सरिता में कल कल,
घोर निशा अवसाद विगत भव—
प्रकृति स्वगति में चल अपने बल,

जन-मन मयी मनुज प्रज्ञा अब भाव-विभव जन-कल्याणी।
मुक्त मुदित मानव प्राणी।

तरु जन जन से बोल रहे हैं,
सुमन डाल पर डोल रहे हैं,
जन-जीवन से जान मिलाकर—
प्राण-सुधा-रस घोल रहे हैं,

परिणय-विसुध प्रकृति के कण कण पाकर मुक्त मुदित प्राणी।
मुक्त मुदित मानव प्राणी।

दूर गगन में झिल मिल तारे,
बात बताते किरण सहारे,
नभ ने राह दिया मानव को—
नक्षत्रों ने आज पुकारे,

अणु-परिमाणु त्वरित गति संसृति सब में जय-जन वाणी।
मुक्त मुदित मानव प्राणी।

नोट—जब सारे संसार में साम्यवाद की तीसरी अवस्था आ जायगी, तब की कल्पना।

विवश भारत

जर्जर कुटिया, दीन निवासी, अपने घर में आप प्रवासी।
घर का सब कुछ लूट बने इस घर के मालिक आँगन बासी।
जाय कहाँ, क्या कहें किसी से, मन मसोस के रहा विचारी।
इधर फिरङ्गी की जंजीरें, उधर निपन का अत्याचारी।

एक चूसता खून हमारा,
एक द्वार पर खड़ा हुआ है।
हम बन्दी हैं अपने घर में,
मुँह पर ताला पड़ा हुआ है।

हम मानव हैं, मानवता के अधिकारों से निपट प्रवंचित।
हम सैनिक हैं, जन-गण हित के, अपनी आज़ादी से वंचित।
आज स्वत्व की माँग हमी को हाय बना देती अपराधी।
छाती में संगीन, घरों में आग, गगन में भीषण आँधी।

कोई नहीं जगत में अपना,
सब के मुँह में खून लगा है।
विकट स्वार्थ-संघर्ष विश्व में—
लाभ-लोभ का दैत्य जगा है।

नैनी जेल
नवम्बर, १९४२

वेदी पर

बन्धु, ज्वलित जीवन की जय हो,
मानव मुक्त मुदित गतिमय हो।
बहुजन हित जीवन-आशय हो,
भव-सुख-हित विभु-वैभव लय हो।

युग-युग की है पीड़ा गहरी, धीर धरा पीड़ा से कहरी।
आह-कराह प्रकम्पित अम्बर, पवन-प्रवाहित ज्वाला-लहरी।

ललक जगी है जीवन-ज्वाला,
नाच रहा नटवर मतवाला,

ज्वाला धधका आग लगा दो,
लघु-गुरु मय पशुता का क्षय हो।

आज मरन में जीवन आया, जीवन में यौवन मुसकाया।
मृत्यु-अमृत मय उन्मद यौवन मानव-मानस में लहराया।

आई आत्माहुति की बेला,
बलि-वीरों का अभिनव मेला,

हँसकर शीश चढ़े वेदी पर
सहज मनुजता सतत अभय हो।

नैनी जेल
नवम्बर, १९४२

मधुकर से

भूमि पड़ी किंशुक कलियाँ भी मर्म रही हैं खोल।
मधुकर बन कान्तर में डोल।

पंकज कली सरस रस चाखा,
मान दान जीवन दे राखा,
पर न हुई वे तनिक तिहारी—
आतप-हिम न रही कहुँ शाखा,

धरती की मंजुल कलियों से गुन गुन गुन गुन बोल।
मधुकर बन कान्तर में डोल।

फूले खेत सरस रस सरसो,
कास कपास अंक भर परसो,
नागफनी कलियाँ मद मातीं—
नेह-सुधा रस बरसो बरसो,

जीवन-रस ले कर जीवन से जीवन करो अमोल।
मधुकर बन कान्तर में डोल।

जिन कलियों ने ओठ न खोला,
जिनसे भूल न मधुकर बोला,
जीवन यौवन जहाँ तरसता—
जहाँ प्रकृति ने अमृत घोला,

भूमि पड़ी उन मधु कलियों के जीवन में रस घोल।
मधुकर बन कान्तर में डोल।

नैनी जेल
दिसम्बर, १९४२

बन्दी-हृदय

आज बन्दी के हृदय में,
वेदना मय प्यार जागा।
साधना-रत चिर प्रवंचित,
सजनि का मनुहार जागा।

प्यार में घुल मिल गईं, जिसकी सकल रस-कामनायें।
सहज सेवा से सुवासित मधुर मन की भावनायें।

त्याग मय अनुरक्ति जिसकी,
मुग्ध बेसुध भक्ति जिसकी,

उस अनूप सुहागिनी का
विवश नव-शृङ्गार जागा।

मन-गगन-दिग्मूल लौं स्मृतियाँ उमड़ती आ रही हैं।
नयन-कोरक में मचल हिय की कथायें छा रही हैं।

इन व्यथा-विजड़ित दिनों में,
करुन-कन विगलित छिनों में,

प्रबल - प्राचीरों तले,
जीवन-ज्वलित अंगार जागा।

नैनी जेल
जनवरी, १९४३

जीवन-रहस्य

संसृति में गति, गति में संसृति, गति जीवन की थाती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।

पंकज लहरों में मुसकाता,
दिनकर कान्त किरण से राता,
घोर तमिस्रा की रजनी में—
अपने आप सकुच सो जाता,

कोमल मधु गुलाब की कलिका काँटों में खिलती मुसकाती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।

जीवन-ज्वार चढ़ी मद-फूली,
मनसिज की माया में भूली,
वधुका अपने को विसार जब—
पीतम की गलबाँहयाँ झूली,

विवश वेदना ढोती, रोती, नव जीवन को गोद खिलाती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।

दुख जीवन है, दुख यौवन है,
दुख हरीतिमामय मधुवन है,
दुख से ही सुख सहज सुहाता–
दुख मानव-जीवन का धन है,

दुख की यह घन-गहन-निशा, सुख के वालारुण को दुलराती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।

नैनी जेल
जनवरी, १९४३

तृण-सहारा

दलित हीन मलीन जीवन ललक नापे भव-पसारा।
प्रकृति का प्यारा दुलारा;
सर्वहारा।

वेदना कुछ और बढ़ जा,
भावना बन कर उमड़ जा,
खो चले अपनत्व अपना—
तोड़ तीव्र ममत्व कढ़ जा,
भूल जाये विगत वैभव, टूट जाये तृण-सहारा।
प्रकृति का प्यारा दुलारा;
सर्वहारा।

तिल-तिल युगों से जल रहा,
अपनी व्यथा से गल रहा,
अपनी मलिनता में लिपट—
मनुजत्व-तत्व मसल रहा,
जागरण की इस घड़ी में जाय बन भूखा अँगारा।
प्रकृति का प्यारा दुलारा;
सर्वहारा।

स्वत्व अपना प्राण-मूले,
तत्व जीवन का न भूले,
जगे जन-गण ज्वलित ज्वाला—
भभक स्वर्णिम सौध छूले,
हार में कङ्काल अपना, जीत में है विश्व सारा।
प्रकृति का प्यारा दुलारा;
सर्वहारा।

नैनी जेल
जनवरी, १९४३

जीवन-गति

जीवन में गति, गति में जीवन, जीवन का सतत प्रवाह रहा।
रुक-रुक आगे, आगे बढ़ना, जीवन में सबल उछाह रहा।
रजनी-सी मृत्यु इधर आई, ऊषा सी अभिनव चाह लिये।
मादक पराग बिखराता सा आया प्रभात नव-राह लिये।

नव नव अरुणोदय से पुलकित बहती नव जीवन की धारा।
अम्बर-चुम्बी जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

नभ मुक्त, मुक्त गतिमान पवन, प्राणों के स्पन्दन मुक्त चले।
मानस की मुक्त विचार-वीचि, जीवन अभिनन्दन मुक्त चले।
जीवन की नव-भंगिमा लिये, नव यौवन गरिमा मुक्त चले।
नव-राष्ट्र-चेतना लिये सजग, नव-मानव-महिमा मुक्त चले।

मुक्त-मानवी-धारा में प्लावित वसुधा का क्रम सारा।
अम्बर-चुम्बी जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

कुछ उलट पुलट, कुछ कुछ हलचल, हाहाकारों में लीन हुई।
सुख का सम्भार लिये तृष्णा, अपने पापों में पीन हुई।
मिट्टी के छुंछे पुतलों में, आई नव यौवन अंगड़ाई।
नीलिमा गगन की लुप्त हुई, अम्बर में भू की लौ छाई।

उन्मुक्त गगन में गूँज उठा मानव-विमुक्ति का नव नारा।
अम्बर-चुम्बी जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

जो मृत्यु-अमरता दोनों से नित आँखमिचौनी खेल रहे।
अपने प्राणों के दीप जला जो पवन-थपेड़े झेल रहे।
पाई जिनकी सहचरी, बुभुक्षा से जिनका अपना नाता।
आँखों में अजब खुमारी ले, जिनको हँस-हँस मरना भाता।

उन अग्निपूत अवधूतों को कब मलिन कर सकेगी कारा?
अम्बर-चुम्बी जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

नैनी जेल
बसन्त पंचमी, सं० १९९९

उठान

युग-युगान्त की प्राण-वेदना घट-घट में अकुलानी।
मानव-प्रकृति क्षुब्ध अम्बर में प्रलय घटा घहरानी।
उठी हिलोर जोर पच्छिम में पूर्व क्षितिज-पट काँपा।
झंझा के तीखे झकोर ने अवनी-अम्बर नापा।

हुई तिरोहित झकझोरों में जन-गण सतत गुलामी।
धीर धरा अब सह न सकेगी, सेवक चाकर स्वामी!

धूलि-कणों में धूम्र, धूम्र में जागी धू-धू ज्वाला।
ज्वाला वायु-वेग से प्रेरित, निखिल धरा उजियाला।
ज्योति जगी अवनी-अम्बर में लुप्त मलिनता-माया।
भव का विभव धरा पर आया, मिटी दैन्य की छाया।

दीन मलीन हीन जन-जीवन हुआ मुक्ति-पथ-गामी।
धीर धरा अब सह न सकेगी, सेवक चाकर स्वामी!

जीवन में नव-नीति, नीति में मानव-हित अभिलाषा।
मानव-हित में प्रेम, प्रेम में जन-जीवन की आशा।
जन-जीवन में मुक्ति, मुक्ति में सहज सुशोभित समता।
समता की आधार-शिला, बहु-जन-हित-सुख की ममता।

बहु-जन-हित ममता में माता मनुज मुक्ति-पथ-गामी।
धीर धरा अब सह न सकेगी, सेवक चाकर स्वामी!

नैनी जेल
मार्च, १९४३

विभूतिका बन्धन

धरती, प्रकृति की धरती,
रस-गन्ध-रूप मय सिधियाँ।
सागर, लहरों का सागर,
विष मय-अमृत मय निधियाँ।

अम्बर असीम का अम्बर,
उच्छ्वास पवन लहराते।
मानव, महिमा मय मानव,
जिसमें सब निजको पाते।

जिसकी सीमा अपने में,
करती असीम से क्रीड़ा।
मन बहलाती है जिसका—
संसृति की अभिनव बीड़ा।

उसके नयनों में पानी!
उसकी वाणी में क्रन्दन!!
कर बद्ध, चपल चरणों में,
भव की विभूतिका बन्धन!

नैनी जेल
१६ अप्रैल, १९४३

साथी

दुख जिनका सहचर साथी !

जिन के जीवन की साँसें नित नव अभाव में चलतीं।
छाती की अहरह धड़कन, जीवन की घड़ियाँ गिनतीं।
जीवन जिनका जीता शव, फिर भी जीते जाते जो—
उन जीवन के जीवन का बन जाना सहचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

युग युग से जिन हाथों ने मानवता को सिरजा है।
जिनके जीवन का प्रति पद मन्दिर मसजिद गिरजा है।
होकर प्रकाश के वाहन, जो अन्ध अमा में रोते—
उन टूटे हुए दिलों का बन जाना सहचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

तन-तोड़ काम करते जो, जिनकी क़िस्मत सोती है।
जो लाज मनुज के ढँकते, जिनकी लज्जा रोती है।
जो संस्कृति के जीवन-धन, संस्कृति से निपट अछूते—
उन श्रम के दीवानों का बन जाना सहचर साथी।
दुख जिनका सहचर साथी !

९ अगस्त, १९४३

विभूतिका बन्धन

धरती, प्रकृति की धरती,
रस-गन्ध-रूप मय सिधियाँ।
सागर, लहरों का सागर,
विष मय-अमृत मय निधियाँ।

अम्बर असीम का अम्बर,
उच्छ्वास पवन लहराते।
मानव, महिमा मय मानव,
जिसमें सब निजको पाते।

जिसकी सीमा अपने में,
करती असीम से क्रीड़ा।
मन बहलाती है जिसका—
संसृति की अभिनव ब्रीड़ा।

उसके नयनों में पानी!
उसकी वाणी में क्रन्दन!!
कर बद्ध, चपल चरणों में,
भव की विभूतिका बन्धन!

नैनी जेल
१६ अप्रैल, १९४३

साथी

दुख जिनका सहचर साथी !

जिन के जीवन की साँसें नित नव अभाव में चलतीं।
छाती की अहरह धड़कन, जीवन की घड़ियाँ गिनतीं।
जीवन जिनका जीता शव, फिर भी जीते जाते जो—
उन जीवन के जीवन का बन जाना सहचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

युग युग से जिन हाथों ने मानवता को सिरजा है।
जिनके जीवन का प्रति पद मन्दिर मसजिद गिरजा है।
होकर प्रकाश के वाहन, जो अन्ध अमा में रोते—
उन टूटे हुए दिलों का बन जाना सहचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

तन-तोड़ काम करते जो, जिनकी क़िस्मत सोती है।
जो लाज मनुज के ढँकते, जिनकी लज्जा रोती है।
जो संस्कृति के जीवन-धन, संस्कृति से निपट अछूते—
उन श्रम के दीवानों का बन जाना सहचर साथी।
दुख जिनका सहचर साथी !

९ अगस्त, १९४३

हम मरें या कि उबरेंगे ?

जिनकी पावन धरती पर गंगा सागर से मिलती।
जिनकी श्यामल धरती पर पद्मा यौवन में खिलती।
सोने के धान बखेरे, जो सस्य-श्यामला धरती—
उस अन्नपूर्णा भू पर अब मरण घटा है घिरती।

चिथड़ों में लाल लपेटे,
माता की ममता खोई।
रोटी के दो टुकड़ों पर—
जीवन की क्षमता रोई।

चावल, दो मुट्ठी चावल, मानव के पंजर बोलें।
सूखी हड्डी के ढाँचे, पथराये पावों डोलें।
फूलों-से कोमल बालक कुत्तों के पत्तल चाटें।
मोरी के दाने चुन चुन, वह पेट निगोड़ा पाटें।

सुजला सुफला धरती में,
मानव-कृत काल समाया।
कीड़ों-से मानव मरते—
छा गई मरण-मरु-माया।

छा गई मरुण-मरु माया, जीवन की आशा छूटी।
स्मशान बन गई धरती, बक्षा की क़िस्मत फूटी।
करता अकाल ताण्डव है, भरते पिशाच किलकारी।
मरते धरती के छौने आबालवृद्ध नर-नारी।

क़िस्मत अपनी फूटी है,
या दुख की अन्तिम बारी।
हम मरें या कि उबरेंगे—
किसकी करलें तैय्यारी?

ओ जन-जीवन त्राता !

बीती निशा, उषा की लाली क्षितिज छोर पर छाई।
धीर धरा में, नीले नभ में लोहित किरन समाई।
किरनों में नव स्फूर्ति, स्फूर्ति में नवजीवन की आशा।
नव जीवन में नई उमंगें, मुखर मौन की भाषा।

मुखर मौन की भाषा में गूँजी जन-गण की वाणी।
जै जै जै, हे लाल सिपाही, जयति क्रान्ति-कल्याणी।

कालकूट यम के दूतों से हँस हँस जिसने खेला।
तिल तिल मिटा गला अपनेको दुश्मन का बल झेला।
रोम रोम में जौहर जिनके, पद पद अमर निशानी।
सूर्य-चन्द्र अपनी किरनों में लिखते शुभ्र कहानी।

जन-गण के पौरुष की ताक़त अब दुनिया ने मानी।
जै जै जै, हे लाल सिपाही, जयति क्रान्ति-कल्याणी।

बढ़े चलो फ़ौलादी वीरो जगतीतल पर छाओ।
हिटलर का बर्लिन तो क्या धरती को लाल बनाओ।
ओ समता के बालारुण, जग में प्रकाश फैलाओ।
अन्धकार में भटक रहे हम अरुण-ध्वजा घर धाओ।

तेरे प्रखर तेज में डूबा विश्व-राहु अभिमानी।
जै जै जै, हे लाल सिपाही, जयति क्रान्ति-कल्याणी।

ओ पौरुषमय, ओ प्रकाशमय, ओ जन-जीवन त्राता !
ओ जनता के विकट लडैते, ओ जनताके भ्राता !
निखिल प्रकृति के वज्रनाद, ओ मनुज-प्रकृति के प्रहरी !
बसुधा तुझसे धन्य हुई, मानवता तुझ पर ठहरी।

"जन-मन ऐक्य विधायक जै हे," जै जन-जीवन-ज्ञानी।
जै जै जै, हे लाल सिपाही, जयति क्रान्ति-कल्याणी।

प्रयाग, २४-५-४४]

प्रभात

रवि से छूटी किरन ज्योति द्रुत नभ में फूटी,
बिहँस उठी अवनी झलमल-झलमल द्युति भू पर टूटी;
छूटी भू पर, तरु तमाल गिरि-गुहा शिखर पर,
निर्झर के संगीत-स्वरों पर, सरिता सर पर।

लहरों के संगीत स्वरों में लसी लालिमा,
बन उपवन के कन-कन में जा लसी लालिमा;
तरु उपवन फल-फूल-मूल में धसी लालिमा,
मानव की प्रज्ञा-प्रतिभा में बसी लालिमा।

अरुण किरण आलोक धान-खेतों पर छाया,
घास फूस की टुटी कुटी में स्वर्ण समाया;
गेहूँ का नव-वर्ण स्वर्ण-सुषुमा में फूला,
मलिन बदन कृषकाय कृषक अपने को भूला।

भू का मादक गन्ध, पवन का मधुमय झोंका,
सुमनों का मुसकान, गान गुनगुन भ्रमरों का;
पिक कुल का कल कंठ, कंठ में निर्झर का स्वर,
स्वर में नव-संगीत, गीत में जीवन खर तर।

जीवन में विश्वास मेघ गम्भीर स्वरों में—
बोल उठा मानव की जै घन गहन तिमिर में।

शान्तिनिकेतन
विजयादशमी २००१

अन्य कविता पुस्तकें

ता ए ड व

काव्य

रामरतन भटनागर, एम० ए०

कवि ने कल्पना के आवरण को उतार कर जीवन की सच्चाई नग्न रूप में पाठक के सामने रक्खा है। अपने नवीन प्रयास को सफल बनाने के लिये उसने नये मूल्यों का सृजन किया है। इस संग्रह की 'ताजमहल', 'स्त्री', 'ध्वनियाँ', 'मेंनका और विश्वामित्र' और 'काशी' शीर्षक कवितायें आर्नल्ड के उस निबंध की याद दिलाती हैं जिसमें उसने कविता को जीवन की समीक्षा कहा है। यदि कविता का अपना कोई व्यक्तित्व है और वह व्यक्तित्व जीवन स्पंदित है तो इस संग्रह की कविताओं को मृत्यु का डर नहीं है क्योंकि सस्ती भावुकता और अस्पष्ट आध्यात्मिकता को स्थान नहीं मिला है। मूल्य १॥

अं ग ड़ा ई

'शील'

इस पुस्तक में मानव जीवन की हीना अवस्था के अनेकों परिवर्त्तमान चल-चित्रों का कवि ने मर्म-स्पर्शी चित्रण किया है। सत्य की खोज में कवि ने हृदय निकाल कर रख दिया है। 'मजदूर की झोपड़ी', 'झूला', 'घसियारा', 'बंदी', 'क्रान्तिकुमारी', 'अन्तर्द्वन्द', शीर्षक कविताओं में कवि पाठक को साथ लेकर चल देता है। "नारी में ग्राम सौन्दर्य के साथ-साथ व्यभिचारी मानव प्रवृत्ति का विकास, ह्रास, नाश एक ही साथ प्रवृत्त हुआ है।" मूल्य १।)

किताब महल, प्रकाशक, इलाहाबाद

Only cover printed at The Varshney Press, Allahabad.